

जो अवसर हमने गंवा दिए

हमारे मौजूदा नीति-निर्धारकों को अपनी ऐतिहासिक गलतियों पर गौर करते हुए चीन के साथ सौदेबाजी करनी होगी, तभी सीमा विवाद सुलझ सकेगा।

भारत-चीन वार्ता में एक दशक तक बीजिंग की तरफ से मध्यस्थ रहे दाई बिनगुओ ने इन दोनों देशों के विवाद पर फिर से एक रोशनी डाली है। इस संदर्भ में चीन के रुख का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि 'अगर भारत अपनी पूर्वी सीमा पर चीन की चिंताओं का ख्याल करता है, तो बीजिंग भी दूसरी तरफ भारत की चिंताओं के अनुरूप कदम उठाएगा।' पूर्व में अपनी किताब *स्ट्रैटेजिक डायलॉग्स* में दाई ने खुलासा किया था कि साल 2012 में दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हो गए थे कि वे सीमा विवाद के मसले पर दोनों इलाकों में 'सार्थक और स्वीकार्य सामंजस्य बिठाने की कोशिश करेंगे।' जाहिर है, भारतीय वार्ताकार इससे अच्छी तरह से वाकिफ हैं। दरअसल, चीन तवांग या फिर इसका बड़ा हिस्सा चाहता है और इसके बदले पश्चिमी सीमा पर भारत को वैसी ही रियायत देने को तैयार है।

हालांकि, तवांग के सामरिक महत्व को देखते हुए भारत के लिए इस क्षेत्र को छोड़ना मुश्किल है।

ऐतिहासिक तौर पर देखें, तो ब्रिटिश भारत की सरहदी नीतियां शिंजियांग और तिब्बत से भारत को अलग करने वाली एक स्पष्ट सीमारेखा तय करने में नाकाम रही थीं। दूसरे क्षेत्रों में अंगरेजों ने कहीं बारीकी से सीमा निर्धारण का ख्याल रखा था। पूर्वी क्षेत्र में उन्होंने 1914 के शिमला सम्मेलन में जातीय व सामरिक रूप से व्यावहारिक रेखा खींची, लेकिन तिब्बत के मामले में 'जोनल' विभाजन की ब्रिटिश कोशिश नाकाम रही और परिणामस्वरूप तिब्बत और भारत के बीच सीमा विभाजन का विवाद आज तक बना हुआ है। हालांकि, तब चीन की भी मुख्य चिंता भारत और तिब्बत के बीच स्पष्ट सीमा निर्धारण नहीं थी, बल्कि उसकी दिलचस्पी चीन व तिब्बत के बीच के सीमा निर्धारण और राजनीतिक रिश्ते में अधिक थी। साफ है, पश्चिमी मोर्चे पर शिंजियांग व तिब्बत, और जम्मू-कश्मीर के बीच सीमा विवाद को ब्रिटिश भारत में अंतिम तौर पर नहीं सुलझाया जा सका था। और इस क्षेत्र में सीमा को लेकर ब्रिटिश भारत का लचीला रुख भू-राजनीतिक व आर्थिक लक्ष्यों से प्रेरित था, न कि एक संप्रभु देश की जरूरतों से। एक इतिहासकार ने लिखा भी है, 'अंगरेज वहां सीमा को लेकर चिंतित नहीं थे, बल्कि वे रास्तों, दरों के जरिये यातायात को सुगम बनाने को लेकर ज्यादा उत्सुक थे...'। यह औपनिवेशिक विरासत 1950 के आधिकारिक भारतीय मानचित्र में भी दिखी थी, जिसमें कश्मीर की पूर्वी सीमा पर स्थित कराकोरम दर्रे के बारे में 'अब तक अनिश्चित' दर्ज था, जबकि साल 1914 में ही मैकमोहन लाइन पूर्वी क्षेत्र की सीमा के रूप में घोषित की जा चुकी थी थी।

1956 में झाउ एन लाई ने जब पहली बार पूर्वी सीमा का सवाल उठाया, तब उन्होंने कहा था कि 'हालांकि चीन

जोरावर दौलत सिंह
रिसर्च फेलो
किंग्स कॉलेज, लंदन



ने कभी मैकमोहन लाइन को मान्यता नहीं दी, मगर यह एक 'निर्विवाद तथ्य' है, जिसे हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। ...यह सही है कि यह प्रश्न अब तक अनिर्णीत है, लेकिन मैं महसूस करता हूं कि इसे मान्यता देने से बेहतर और कोई रास्ता नहीं है।' जनवरी 1959 के अपने पत्र में झाउ ने मैकमोहन लाइन के बारे में 'कमोबेश यथार्थवादी' रुख अपनाने की बात कही थी। अप्रैल 1960 के अपने आखिरी भारत दौरे के वक्त झाउ ने दिल्ली में कहा था, 'जिस तरह से चीन पूर्वी सरहद पर भारत के नजरिये के साथ तालमेल को तैयार है, भारत को भी पश्चिम में चीन की बात माननी चाहिए। ...मुझे उम्मीद है कि भारत सरकार पश्चिमी सीमा पर वैसा ही रुख अपनाएगी, जैसा चीन की सरकार ने पूर्वी सरहद पर अपनाया है। ...आपसी सहयोग और समन्वय का रुख।'

भारत के नीति-नियंता इस मौके को भुनाने में नाकाम रहे। झाउ पर नेहरू की प्रतिक्रिया इसे साफ करती है, 'चीजों को यूं स्वीकार करने का मतलब होगा कि कोई विवाद ही नहीं था और फिर सारे सवाल यहीं खत्म हो जाएंगे; हम ऐसा करने में असमर्थ हैं।' यह रुख तब था, जब नई दिल्ली अक्साई चिन की विवादित स्थिति से वाकिफ थी।

अब जरा दूसरे चीनी प्रस्ताव पर गौर कीजिए, जो 1979 में अटल बिहारी वाजपेयी के चीन दौरे के वक्त बीजिंग द्वारा पेश किया था। तब दंग जियाओपिंग ने अप्रत्याशित रूप से वाजपेयी के समक्ष एक आधिकारिक

'पैकेज प्रस्ताव' रखा था। दंग ने दोनों सीमाओं के इलाकों के लेन-देन के आधार पर व्यापक समाधान की बात कही थी। इस पर वाजपेयी ने भारत का रुख रखते हुए कहा कि पूर्वी सीमा पर थोड़े-बहुत फेरबदल के जरिये समाधान हासिल करने के बाद ही अक्साई चिन की तरफ बढ़ा जा सकता है। लेकिन दंग ने इलाका-दर-इलाका वाले भारतीय नजरिये को नामंजूर कर दिया। जून 1981 में तत्कालीन चीनी विदेश मंत्री हुआंग हुआ ने भारतीय विदेश मंत्री नरसिंह राव के सामने एक बार फिर वही 'पैकेज प्रस्ताव' रखा। तब भी भारत की प्रतिक्रिया ठंडी ही रही।

इसके बाद चीन ने लेन-देन वाली अपनी रणनीति में बड़ा बदलाव किया। उसने यथास्थिति के आधार पर समझौते की बात कह पूरब में रियायत की मांग करते हुए नई दिल्ली पर दबाव बढ़ा दिया। दोनों देशों में दिसंबर 1981 से लेकर 1988 तक आठ दौर की बातचीत हुई। शुरुआत में दोनों पक्ष अपने-अपने रुख के साथ चिपके रहे। भारत पूर्वी सीमा के मसले को पहले सुलझाने की मांग करता रहा, क्योंकि उसकी निगाह में यह समाधान के योग्य था और फिर इससे अक्साई चिन पर वार्ता के लिए बेहतर माहौल भी बनता। लेकिन चीन 'व्यापक समझौते' के पक्ष में था। नवंबर 1985 में छठे दौर की वार्ता में चीनी उप-विदेश मंत्री ने भारतीय पत्रकारों से कहा कि 'पूर्वी क्षेत्र का विवाद कहीं ज्यादा बड़ा है और इसके हल के धागे से ही व्यापक सहमति की चाबी बंधी है।'

दाई बिनगुओ का ताजा बयान बताता है कि बीजिंग तीन दशक बाद भी अपने उसी रुख पर कायम है। ऐसे में, अब भारत का क्या जवाब होना चाहिए?

अव्वल तो नीति-निर्धारकों को अपनी ऐतिहासिक गलतियों पर गौर करते हुए समझदारी के साथ उचित सौदेबाजी करनी होगी। इसमें 'पैकेज डील' के सिद्धांतों को नई दिल्ली फिर से जिंदा कर सकती है। दूसरा, भारत को वास्तविक नियंत्रण रेखा से सटी दूसरी वैकल्पिक सीमारेखा का आकलन शुरू कर देना चाहिए, जो सैन्य सुरक्षा बल के लिहाज से मुफीद हो। अगर तवांग एक रेडलाइन है, तब भी चीन से बेहतर सौदेबाजी के लिए भारत को सीमा पर 'सामंजस्य' बिठाने की जरूरत पड़ेगी ही। जाहिर है, सीमा को लेकर गंभीर समझौते राजनीतिक स्थिरता के बिना नहीं हो सकते।

(ये लेखक के अपने विचार हैं)

